International Journal for Multidisciplinary Research (IJFMR)
E-ISSN: 2582-2160 ● Website: www.ijfmr.com ● Email: editor@ijfmr.com

छठी शताब्दी ईसा पूर्व में ऋणादान

डॉ अनिल कुमार श्रीवास्तव

सहायक आचार्य, प्राचीन इतिहास विभाग अखिलभाग्य पी जी कॉलेज, रानापार, गोरखपुर

सारांश

भारत में ऋण के लेन–देन की प्रथा कब प्रारम्भ हुई, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है परन्तु हड़प्पा काल में इसके प्रचलित होने की प्रबल सम्भावना प्रतीत होती है। हड़प्पा सभ्यता सहित कांस्ययुगीन विश्व की किसी भी सभ्यता में सिक्कों का प्रचलन नहीं था। अतः व्यापारियों, कृषकों, शिल्पियों आदि को विभिन्न प्रयोजनों के लिये वस्तुओं का विनिमय एवं ब्याज पर लेन–देन करना पड़ता होगा। प्राचीन भारत में अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं से पीड़ित व्यक्तियों को विवश होकर सम्पन्न लोगों से आर्थिक सहायता लेनी पड़ती थी। प्रारम्भ में यह सहायता लाभ निरपेक्ष थी परन्तु क्रमशः धन संग्रह की प्रवृत्ति में विस्तार के परिणामस्वरूप धनवान लोग मूलधन पर लाभ की कामना करने लगे। यह लाभ की अवधारणा ही ऋणदाताओं के लिये प्रमुख प्रेरक शक्ति सिद्ध हुई जिसके परिणामस्वरूप सम्पन्न किसान, शिल्पी, व्यापारी एवं श्रेष्ठि अपनी अतिरिक्त पूंजी का सदुपयोग ब्याज पर ऋण देकर करने लगे। प्रस्तुत शोधपत्र का प्रमुख उद्देश्य छठी शताब्दी ईसा पूर्व में ब्याज पर ऋण के लेन–देन का अध्ययन करना है।

प्रमुख शब्दः ऋण, ब्याज, कुटुम्बिक, धन, गृहपति

छठी शताब्दी ईसा पूर्व में कृषि, उद्योग एवं व्यापार–वाणिज्य में पर्याप्त प्रगति हुई और भारत में हड़प्पा सभ्यता के पतन के उपरान्त दूसरी बार अनेक नगरों की स्थापना हुई। इस काल में ग्राम्य वैदिक संस्कृति अनेकत्र नगरवासिनी हुई।[1] इस समय तक उत्तर भारत में कौशाम्बी, राजगृह, श्रावस्ती, काशी एवं चम्पा आदि नगर प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्रों के रूप में प्रतिष्ठित हुए। काशी के यश, श्रावस्ती के अनाथपिण्डक, कौशाम्बी के घोषक आदि ऐसे धनकुबेर थे, जिन्हें राजा एवं प्रजा दोनों से सम्मान प्राप्त था। इसी काल में सर्वप्रथम सिक्कों का प्रचलन हुआ। सिक्कों के प्रचलन, लौह उपकरणों के उपयोग एवं लेखन कला के आविष्कार के कारण इस काल की व्यापारिक गतिविधियों में पर्याप्त प्रगति हुई। व्यापारिक गतिविधियों की तीव्रता ने ऋण के लेन–देन को भी प्रभावित किया। विविध उद्योगों एवं शिल्पों के पोषण एवं विकास के लिये और विदेशों से व्यापारिक वस्तुओं के आयात के लिये अधिक से अधिक पूंजी की आवश्यकता थी जिसके परिणामस्वरूप ऋण देने के व्यवसाय में भी प्रगति हुई। बौद्ध ग्रन्थों में अनेक ऐसे श्रेष्ठियों, कुटुंबियों एवं गृहपतियों का उल्लेख मिलता है, जो ब्याज पर ऋण देने का कार्य करते थे।[2]

मुद्रा के प्रचलन के पश्चात ऋण के रूप में वस्तुओं का आदान प्रदान अपेक्षाकृत कम हुआ और उसके स्थान पर मुद्राओं के माध्यम से ऋण का लेन–देन बढ़ा। इसका प्रमुख कारण यह था कि सिक्कों का निश्चित मूल्य निर्धारित था और उसके माध्यम से ऋण ग्रहण करने वाला व्यक्ति आवश्यकतानुसार अनेक वस्तुओं का क्रय कर सकता था। अतः ब्याज पर ऋण देने का कार्य, जो पहले साधारण किसान एवं व्यवसायी करते थे अब वह लोग करने लगे जिनके पास मुद्राओं की प्रचुरता थी।[3] यही कारण है कि इस काल में ब्याज पर ऋण देने का कार्य अधिकांशतः गृहपतियों, कुटुंबियों एवं श्रेष्ठियों के माध्यम से होने लगा[4] परन्तु मुद्राओं के प्रचलन के पश्चात् भी ग्रामीण क्षेत्रों में समृद्ध किसान ब्याज पर अनाज देने का कार्य करते थे। ग्रामीण क्षेत्रों में अकाल की स्थिति में खाद्यान्न की आवश्यकता की पूर्ति एवं बीज आदि के वितरण का कार्य प्रायः सम्पन्न किसान ही करते थे और इसके बदले में फसल तैयार होंने पर ब्याज सहित अपना मूलधन वापस लेते थे। सोहगौरा ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि श्रावस्ती के महामात्यों द्वारा संकटकाल में उपयोग के लिये अन्न के दो कोष्ठागार सुरक्षित रखे गये थे। सामान्य स्थिति में इन कोष्ठागारों का उपयोग वर्जित था।[5]

बौद्ध ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि कभी–कभी बौद्ध भिक्षु भी ब्याज पर धन देने का कार्य करते थे।[6] एक जातक कथा में एक आखेटक को कुसीद द्वारा जीविका चलाने की सलाह दी गयी है।[7] इन संदर्भों से ऐसा प्रतीत होता है कि ब्याज पर ऋण देकर जीविका चलाने का व्यवसाय क्रमशः अधिकाधिक लाभप्रद एवं सामान्यजनों के लिये आकर्षक होता जा रहा था। परन्तु बदलती हुई सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों के कारण यह व्यवसाय जन साधारण के हाथ से निकलकर सेठों अथवा महाजनों के हाथों में केन्द्रित होने लगा। बौद्ध ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर ऋणदाताओं के रूप में कुटुंबिकों एवं गृहपतियों का उल्लेख मिलता है।[8] प्रायः ये कुटुंबिक एवं गृहपति वैश्य वर्ण के ही होते थे।[9] बौद्ध ग्रन्थों से यह संकेत मिलता है कि गृहपति एवं कुटुंबिक अत्यन्त समृद्ध थे और इनमें से कुछ बड़े भू–स्वामी भी थे।[10] यह कुटुंबिक एवं गृहपति वाणिज्य–व्यापार के साथ–साथ ब्याज पर धन देने का भी कार्य करते थे।[11] ऐसा प्रतीत होता है कि सम्पन्न गृहपति एवं कुटुंबिक उद्योग, व्यापार आदि विभिन्न आर्थिक व्यवसायों पर अपना प्रभाव रखते थे और उपार्जित धन

को ब्याज पर ऋण के रूप में जरूरत मंद लोगों को देते थे। गांवों एवं नगरों में समान रूप में इनका प्रभुत्व व्याप्त था। ग्रामीण क्षेत्रों मे ये लोग कृषि योग्य विशाल भू खण्डों के स्वामी थे और नगरों में अपने वैभव से व्यापार एवं उद्योगों को नियंत्रित करते थे।[12] बौद्ध साहित्यों में अनाथपिण्डक, मेण्डक आदि को भी गृहपति कहा गया है।[13] बौद्ध साहित्य में विनयग्राम में निवास करने वाले गृहपति आनन्द का उल्लेख मिलता है, जो बहुत बड़े भूखण्ड पर कृषि कार्य करता था।[14] श्रावस्ती का गृहपति अनाथपिण्डक भी श्रेष्ठि होने के साथ–साथ विशाल कृषि फार्मों का स्वामी था। इसी प्रकार बौद्ध ग्रंन्थों में काशिभारद्वाज नामक ब्राह्मण का उल्लेख मिलता है जो 500 हलों एवं बहुत से श्रमिकों से अपने कृषि क्षेत्रों पर कृषि कार्य करता था।[15] बौद्ध ग्रन्थों में 80 करोड़ की सम्पत्ति वाले ब्राह्मण कुटुंबियों के भी उल्लेख मिलते है।[16] यह गृहपति एवं कुटुंबिक अपनी समृद्धि के कारण समाज में प्रतिष्ठित थे क्योंकि ये समय–समय पर व्यवसायियें एवं व्यापारियों से लेकर जनसामान्य तक को ऋण पर धन देकर उनकी आर्थिक रूप से सहायता करते थे।

बौद्ध साहित्य में गृहपतियों एवं कुटुंबियों के अतिरिक्त श्रेष्ठियों का भी उल्लेख ऋणदाताओं के रूप में मिलता है। बौद्ध ग्रन्थों में श्रेष्ठि के अतिरिक्त महाश्रेष्ठि, अनुश्रेष्ठि एवं चुल्लश्रेष्ठि का उल्लेख मिलता है। इनमें से महाश्रेष्ठि सम्भवतः नगरों में निवास करने वाले सर्वाधिक धनाढ्य सेठ होते थे। बौद्ध काल में काशी के यश, कौशम्बी के अनाथपिण्डक एवं घोषक अपने–अपने नगरों के महाश्रेष्ठि कहे जाते थे। जातक कथाओं में इन धनाढ्य सेठों को कोटिश्वर की संज्ञा दी गयी है। छोटे–छोटे कस्बों एवं ग्रामीण क्षेत्रों के साधारण श्रेष्ठि सम्भवतः जनपद श्रेष्ठि कहे जाते थे।[17] अनुश्रेष्ठि, महाश्रेष्ठि से छोटे होते थे और चुल्लश्रेष्ठि अपने वैभव की दृष्टि से अनुश्रेष्ठि से भी छोटे होते थे।[18] एन0सी0 बन्धोपाध्याय का मानना है कि महाश्रेष्ठि बैंकिग एवं औद्योगिक संगठनों के अध्यक्ष थे। अतः उनकी स्थिति राजा के परामर्शदाता की थी।[19] जयमल राय ने बौद्ध कालीन सेठों की स्थिति पर विचार करते हुए यह कहा है कि यह वर्ग मूलतः भू–स्वामियों का था, जिसने अतिरिक्त खाद्योत्पादन के द्वारा पर्याप्त धन अर्जित कर लिया था और कालान्तर में नगर और ग्रामों में इनका आर्थिक महत्व समान रूप से स्थापित हुआ क्योंकि ग्रामों में इनकी स्थिति भूमिपति की थी और नगरों में व्यापारी और महाजन की थी।[20] जातक कथाओं से यह सूचना प्राप्त होती है कि श्रावस्ती का प्रसिद्ध श्रेष्ठि अनाथपिण्डक प्रायः अपने कृषि कार्यों के देख रेख के लिये नगरों से ग्रामीण क्षेत्रों के तरफ जाया करता था।[21] ये श्रेष्ठि इतने समृद्ध थे कि अनेक धार्मिक संस्थाओं एवं बिहारों को दान देते थे और प्राकृतिक आपदा के समय जनसाधारण की आर्थिक सहायता करते थे। ये श्रेष्ठि जनसाधारण की व्यक्तिगत आर्थिक कठिनाईयों की स्थिति में ऋण के रूप में धन देते थे और दिये गये ऋण पर निश्चित मात्रा में ब्याज भी प्राप्त करते थे। अपने तत्कालिक समस्या के समाधान से संतुष्ट ऋणीजन इन श्रेष्ठियों के प्रति कृतज्ञता का भाव रखते थे।

बौद्ध ग्रन्थों में अनेक ऐसे उद्धरण मिलते है जिनसे यह सूचना प्राप्त होती है कि कौशाम्बी, राजगृह एवं काशी के कुछ सेठ प्रसिद्ध बैंकर के रूप में भी कार्य करते थे। जातक ग्रन्थों में अनाथपिण्डक का उल्लेख बैंकर के रूप में मिलता है।[22] ये सेठ आवश्यकता पड़ने पर राजाओं को भी आर्थिक सहायता देते थे। महावग्ग में राजगृह के सेठ की अस्वस्थता का उल्लेख मिलता है जो बिम्बिसार का समकालीन था। राजगृह के सेठ की चिकित्सा बिम्बिसार के राजवैद्य जीवक ने की थी। स्वस्थ होने पर राजगृह के उस सेठ ने दो लाख कार्षापण राजा एवं राजवैद्य को पुरस्कार के रूप में दिया।[23] जातक ग्रन्थों में श्रेष्ठियों के वैभव एवं उनकी उदारता के अनेक ऐसे प्रमाण उपलब्ध है जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वैश्य वर्ण के होते हुए भी नगरों में निवास करने वाले श्रेष्ठि समाज में अत्यन्त प्रतिष्ठित जीवन व्यतीत करने लगे थे।[24] क्रमशः व्यापारिक गतिविधियों में विस्तार के फलस्वरूप श्रेष्ठिगण नगरों में ही स्थायी रूप से निवास करने लगे। इसका प्रमुख कारण यह था कि नगर व्यवसायिक गतिविधियों के केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित हो गये थे और वहां व्यापार एवं व्यवसायों में पूंजी लगाने के लिये अधिक अवसर उपलब्ध था।

उपरोक्त विवरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में ऋण का लेन–देन वस्तु विनिमय के माध्यम से होता था। व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ऋण लेता था। प्रारम्भ में यह व्यवस्था लाभ निरपेक्ष थी। परन्तु धन संग्रह की प्रवृत्ति के फलस्वरूप ऋणदाता मूलधन पर लाभ की कामना करने लगा। छठीं शताब्छी ईसा पूर्व में मुद्रा प्रणाली के प्रचलन के पश्चात् ही ऋण के लेन–देन में मुद्रा का प्रयोग होने लगा। इस काल में लेखन कला के विकास और मुद्रा के प्रचलन ने इसे सरल बना दिया और इस समय तक ऋणादान व्यवसाय के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

सन्दर्भ सूची

1. राव, विजय बहादुर (1966), उत्तरवैदिक समाज एवं संस्कृति, वाराणसी, पृ0–47
2. जातक, (अनु0), ई0 बी0 कावेल, भाग–2, पृ0–388
3. मिश्र, वाई0 के0, सोशियो इकोनामिक एण्ड पोलिटिकल हिस्ट्री आफ ईस्टर्न इण्डिया, पृ0 117
4. अंगुत्तर निकाय, 1/177
5. एपिग्रैफिया इण्डिका, भारत सरकार, जिल्द–22, पृ0 2
6. जातक, (अनु0), ई0 बी0 कावेल, भाग–4, पृ0 184

7. तत्रैव, पृ0 432
8. तत्रैव, भाग–2, पृ0 388
9. लाहा, वी0सी0, इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टेक्स्ट्स आफ बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म, पृ0 174–175
10. जातक, (अनु0), ई0 बी0 कावेल, भाग–1, पृ0 196
11. तत्रैव, भाग–2, पृ0 267
12. राय, जयमल, (1974), दि रूरल अर्बन इकानोमी एण्ड सोशल चेंजेज इन एन्सिएण्ट इण्डिया, वाराणसी, पृ0 45
13. लाहा, वी0सी0, पूर्वोद्धृत, पृ0 175
14. उवासगदसाओ, भाग–1, पृ0 7
15. सुत्तनिपात, 1/40 य चुल्लवग्ग, 6/4/9
16. जातक, (अनु0), ई0 बी0 कावेल, भाग–4, पृ0 370
17. तत्रैव, पृ0 445
18. मोतीचन्द्र, (1953), सार्थवाह, पटना, पृ0 66
19. बन्धोपाध्याय, एन0सी0, (1945), इकोनामिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन एन्सिएण्ट इण्डिया, कलकत्ता, पृ0 260
20. राय, जयमल, पूर्वोद्धृत, पृ0 127
21. जातक, (अनु0), ई0 बी0 कावेल, भाग–1, पृ0 121
22. मिश्र, श्याम मनोहर (1997), प्राचीन भारत में आर्थिक जीवन, इलाहाबाद, पृ0 366
23. महावग्ग, 8/1–16
24. जातक, (अनु0), ई0 बी0 कावेल, भाग–1, पृ0 269